THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

दया-दान पर आचार्य श्री भिक्षु का

2542

जैन-शास्त्रसम्मत दृष्टिकोण

[आचार्य श्री तुलसीकी निरूपण-पद्धतिके आधार पर]

मुनि श्री नथमलजी

प्रकाशक—

आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

दया-दान पर आचार्य श्री भिक्षु का

जैन-शास्त्रसम्मत दृष्टिकोण

[आचार्य श्री तुलसीकी निरूपण-पद्धतिके आधार पर]

मुनि श्री नथमलजी

प्रकाशक—

आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रकाशक
आदर्श साहित्य संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथमावृति ३०००
भाद्र शुक्ला ५
सं० २०११
मूल्य ।-)

मुद्रक
धन्नालाल बरड़िया
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-सङ्घ द्वारा सञ्चालित)
२१, बड़तल्ला स्ट्रीट
कलकत्ता ७

इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं ।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र १ संवरद्वार

भगवान्ने जगत्के सर्व जीवोकी रक्षाके लिए प्रवचन किया अर्थात प्रत्येक व्यक्ति सब जीवोकी हिंसासे बचे, इसलिए प्रवचन किया ।

इमं च अलियपिसुणफरुसकडुयचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं ।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र २ संवरद्वार

सब जीव अलीक, पिशुन, कठोर, कटु, चपल वचनसे बचें, इसलिए भगवान्ने प्रवचन किया ।

आमुख

सत्य स्वयं ढंकाहुआ होता है। उसमे भी एक तो वह तत्त्व हो और दूसरे आध्यात्मिक। फिर सहज दर्शन कैसे मिले? आत्माकी अन्दरकी तहोमे पहुंचकर ही विरला व्यक्ति उसे देख पाता है। आचार्य भिक्षुकी सूक्ष्म और पारदर्शी दृष्टिने देखा, वह सत्य महान् आध्यात्मिक सत्य है। उसतक पहुंचना कठिन है, इसमे कोई दो मत नहीं।

स्वयं आचार्य भिक्षुने स्वानुभूत सत्यको अपनी स्फुट वाणी द्वारा रखा। उनके उत्तरवर्ती आचार्यों, शिष्य-प्रशिष्योने विविध युक्तियो द्वारा उसे बुद्धिगम्य बनाया। किन्तु युग बदलता है, भाषा बदलजाती है, समझनेकी स्थिति बदलजाती है। सत्यके नहीं बदलने पर भी स्थितिया बदलती है, तब उस (सत्य) तक पहुंचनेकी पद्धतिया भी बदलना चाहती है और उन्हे बदलना भी चाहिए।

आजका परिवर्तन आजकी पीढीके लिए नया होता है। वही बादकी दो चार पीढियोंके लिए पुराना—यह क्रम सदासे चला आरहा है।

तेरापन्थके सिद्धान्तोंको गम्भीरतासे नहीं समझनेवाले कुछ व्यक्ति कहते है—ये सिद्धान्त अच्छे नहीं है। ये लोग परोपकार करनेका निषेध करते है।

तेरापन्थके सिद्धान्तको सहृदयतासे नहीं समझनेवाले कहते हैं—इनके मूल सिद्धान्त परोपकारके निषेधक ही थे किन्तु आचार्य तुलसीने उन्हें बदल डाला।

प्रथम श्रेणीके व्यक्ति गम्भीरतासे देखें—तेरापन्थके सिद्धान्त परोपकारमे बाधा डालनेवाले नहीं किन्तु उसकी विविध भूमिकाओंका बोध करानेवाले है। आचार्य भिक्षुरचित कुछ गाथाएँ पढ जाइये —

दान देता कहै तू मत दे इणनें, तिण पाल्यो निषेध्यो दानो।
पाप हुंता नै पाप बतायो, तिणरो छै निर्मल ज्ञानो ॥
असजती नै दान दिया में, कह्दियो भगवत पापो।
त्या दाननै बरज्यो निषेध्यो नाही, हुती जिसी कीवी थापो ॥
साधुने बरज्यो तिण घरमें न पैसै, करडा कह्या तिण घर माहि जावै।
निषेध्यो ने करडो बोल्या ते, एकण भाषा में न समावै ॥
ज्यू कोई दान देता बरज राखै, कोई दीधा में पाप बतावै।
ए दोनू इ भाषा जुदी जुदी छै, ते पिण एकण भाषामें न समावै ॥

(व्रताव्रत ३। ३६, ४०, ४२, ४३)

दूसरी श्रेणीके व्यक्ति सहृदयतासे देखें— तेरापन्थके सिद्धान्तोंका परोपकारबाधक रूप न पहले था और न आचार्य तुलसीने अब उसे बदला है। आचार्य श्री तुलसीने निरूपण पद्धतिको बदला है। तात्पर्य यह है कि आचार्य भिक्षुके दृष्टि-बिन्दुको युगकी भाषामें रखा है। आचार्य भिक्षु और आचार्य तुलसीके सत्य दो नहीं—यह अचरजकी बात नहीं। अचरजकी बात यह है कि इनके शब्द प्रयोग भी एक है। आचार्य तुलसी सामाजिक आवश्यकताओंको लोक-धर्म कहते है, तब अनजान आदमी कहते है—भीखनजी इन्हें पाप कहते थे और ये इन्हें लोक-धर्म कहने लगे है। आचार्य तुलसीके इस शब्द प्रयोगके आधारको वे नहीं जानते। आचार्य भिक्षुको सामाजिक आवश्यकताओंको 'लोक-धर्म' माननेमें कोई आपत्ति नहीं थी। उनको 'मोक्ष-धर्म' न मानाजाय—यह आचार्य भिक्षुका अभिमत था। उन्होंने बताया—सांसारिक सहयोगमे मुक्तिका' धर्म जिन'-धर्म, केवली'-धर्म नहीं है। किन्तु इनमे लोकसम्मत धर्म

१—(क) जिमाया कहै मुक्ति रो धर्मो। (व्रताव्रत ७।११)
(ख) मोल लिया कहै धर्म मोक्ष रो,
ए फद माड्यो हो कुगुरु कुबुद्धि चलाय। (अणुकंपा ७।६३)

२—ससारतणा उपगार कियामें, जिण धर्म रो अश नही छै लिगार। (अणुकम्पा ११।३६)

३—बचावणवालो ने उपजावणवालो, ए तो दोनू ससारतणा उपगारी एहवा उपगार करै आहमा साहमा, तिणमे केवली रो धर्म नही छै लिगारी॥ (अणुकंपा ११।४२)

नहीं, यह उन्होंने नहीं कहा। सासारिक सहयोगको संसारका उपकार[1], संसारका कर्तव्य[2], लौकिक दया[3], आदि माननेका उन्होंने कब विरोध किया ? उनका दृष्टिकोण यही था कि राग, द्वेष, मोह हिंसा है, संसारका मार्ग है। इन दोनों (संसार-मार्ग और मोक्ष-मार्ग) को एक न समझाजाय[4]।

आचार्य तुलसीने आचार्य भिक्षुके इस दृष्टिकोणका युगकी भावनाके साथ जो सामंजस्य स्थापित किया है, यह अलौकिक दृष्टिकोण जो लोकवुद्धिगम्य वना है, वह आचार्यश्रीकी निरूपण शैली का ही परिणाम है। प्रस्तुत निवंधमे इसीके आधारपर आचार्य भिक्षुके आध्यात्मिक दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न कियागया है।

वाव (गुजरात) —मुनि नथमल

ता० २१-४-५४

१—(क) जीवानै जीवा वचाविया, हुवै 'ससारतणो उपगार'।
(अणुकंपा १२।८)

(ख) जीवानै मार जीवानै पोखै, ते तो 'मार्ग ससार नो' जाणो।
(अणुकंपा ६।२४)

२—ए दान 'ससारतणो किरतव' छै, तिणमे मोक्ष रो मार्ग नाही।
(व्रताव्रत १६।८)

३—लारला सुखी दुखी री कीरप करसी, आ लौकिक दया जाणो।
(सरधा री चौपी २२।५४)

४—ससार मोक्ष तणा उपगार, समदृष्टि हुवै ते न्यारो न्यारो जाणै।
(अणुकंपा ११।५२)

'दया-दान पर आचार्य भिक्षु का जैन शास्त्रसम्मत दृष्टिकोण' सर्वोदय ज्ञानमालाका छठा पुष्प है। जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्त्व-ज्ञानके साथ भारतीय और जैन-दर्शनका प्रचार करना है। प्रस्तुतः ग्रन्थके प्रकाशनमें रामगढ़ (शेखावाटी) निवासी श्री रावतमलजी बाठियाने अपने स्व० पिताश्री दानमलजी की स्मृतिमें नैतिक सहयोगके साथ आर्थिक योग देकर अपनी सांस्कृतिक व साहित्य-सुरुचिका परिचय दिया है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य-संघकी ओर से सादर आभार प्रकट करते हैं।

—प्रकाशन मन्त्री

विषय-सूची

क्र० सं० विषय	पृष्ठ
१—आचार्य भिक्षुकी परम आध्यात्मिक दृष्टि	१
२—तेरापन्थके दार्शनिक विचारोंकी पृष्ठभूमि	४
३—सत्य और विवेकका आग्रह	६
४—शब्द-प्रयोगकी भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ	८
५—आचार्य भिक्षुके विचारोंकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि	६
६—अहिंसा और दया-दान अन्य विचारकोंकी दृष्टिमें	१७
७—धर्म-संकटके प्रश्न और उनका समाधान	२६
८—उदार बनिए	३५
९—पवित्र प्रेरणा	३७

आचार्य भिक्षु की परम आध्यात्मिक दृष्टि

तेरापन्थके प्रवर्तक आचार्य भिक्षुने जैन-सूत्रोंके आधार पर जो विचार स्थिर किये, वे लोक-व्यवहारसे भिन्न हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। मोक्ष और संसारका मार्ग एक नहीं, तब दोनोंका आचार-विचार एक कैसे हो सकता है ?

आचार्य भिक्षु पारखी थे। गुणोंके प्रति उनकी श्रद्धा थी किन्तु थी परखपूर्वक। उन्होने कहा, छद्मस्थ[1] दशामें श्रमण भगवान् महावीरने गोशालकको बचानेके लिए लब्धि[2] का प्रयोग किया, वह उनकी मर्यादाके अनुकूल नहीं था। वे ऐसा कर नहीं सकते थे किन्तु रागवश करडाला।

जो व्यक्ति अपने श्रद्धास्पद देव और गुरुकी आलोचना कर सकता है, वह तत्त्वकी आलोचना न करे, यह संभव नहीं।

१—असर्वज्ञ-अवस्था

२—योगजन्य शक्ति

आचार्य भिक्षु, जो श्रद्धा और तर्क दोनोको साथ लिएहुए चले, वे धर्म-तत्त्वोंको भी आलोचनाके विना कैसे स्वीकार करते ?

उन्होंने धर्मके मौलिक तत्त्व या मुख्य साधन—अहिंसाको कसौटी पर कसा। परिणाम यह निकला कि व्यावहारिक, लौकिक या सामाजिक दया, दान, सेवा, सहयोग, उपकार आदि-आदि तत्त्व विशुद्ध अहिंसात्मक दया, दान, सेवा, सहयोग, उपकार आदिसे अलग होगये।

आचार्य भिक्षुके आठ वर्पके शास्त्रीय मंथन द्वारा स्थिर किये हुए विचार जनताके सामने आये, तब क्रन्ति सी मचगई। उनके मजबूत आचार, कुशल अनुशासन, व्यवस्थात्मक संगठन और जनताके वढतेहुए आकर्पणने तात्कालिक साधु-संस्थाको सहजवृत्त्या चुनौती दे डाली। अव वे विरोधके केन्द्र-विन्दु वनगये। उनके विचार गहरे थे, उस समयके लिए नये थे, चालू प्रवाहके अनुकूल नहीं थे, लोक-मानसकी सूझसे वहुत दूर थे, अध्यात्मकी उच्च भूमिका पर रहेहुए थे, इसलिए विरोधकर्ताओंने उनके नवीन विचारोको ही विरोधका साधन वनाया। उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी मौलिकताको छिपाकर उनका इस भाषामे प्रचार कियागया—

१—भीखणजी भगवान् महावीरको चूका कहते है।

२—ये बिल्लीसे चूहेको छुडानेमे पाप कहते है।

३—आगमें जलतीहुई गायोंको वचानेमें पाप कहते है।

४—छतसे गिरतेहुए अथवा दुर्घटनामे फँसेहुए वच्चेको वचानेमे पाप कहते है।

५—औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, कुआ, तालाब, प्याऊ आदि करानेमे पाप कहते है।

६—भूखे-प्यासेको रोटी-पानी देनेमे पाप कहते हैं।

७—माता-पिताकी सेवा करनेमे पाप कहते हैं।

८—अपने सिवाय सबको कुपात्र मानते है—आदि आदि।

तेरापन्थके विरोधमे प्रचारका यह रूप आज भी चालू है। जो व्यक्ति तेरापन्थके मौलिक सिद्धान्तोकी जानकारी नहीं करते, वे तेरापन्थकी परिभाषा यही जानते हैं कि तेरापन्थी वह है, जो मरतेको बचानेमे पाप कहता है। विरोधमे सत्यका गला घोटा जाता है। विरोधी प्रचारके द्वारा कहीं भी असलियतको पकड़ा नहीं जा सकता, इसलिए यह आवश्यक है कि तेरापन्थका दृष्टिकोण समझनेके लिए उसीके साहित्यका अध्ययन किया जाय।

तेरापन्थके दार्शनिक विचारोंकी पृष्ठभूमि

जैन-धर्मका एकमात्र उद्देश्य आत्म-विशुद्धि या मोक्ष है। जैन-दर्शनमें सिर्फ इसीका विचार कियागया है। लौकिक जीवनकी सुख-सुविधा पर जैन-दर्शन या मोक्ष-शास्त्र कोई विचार नहीं करता। उसकी दृष्टिमें यह समाज-शास्त्रका विपय है। प्रत्येक शास्त्र[1] की अपनी-अपनी सीमा होती है। एक कोटिका शास्त्र सव क्षेत्रोंमें सफल नहीं बन सकता।

समाजके लिए हिंसा आवश्यक या अनिवार्य होती है। मोक्षका साधन है एकमात्र अहिंसा। इसलिए मोक्ष-शास्त्र

१—सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्यैव साध्यस्य साधनानि, नान्यस्यार्थस्य, मोक्षश्च तेषामेव साधनाना साध्यो नान्येषामिति।

भगवती वृत्ति १।१

[सम्यग् दर्शन आदि मोक्षरूप साध्यके ही साधन है, अन्यके नही, और मोक्ष उन्ही साधनोका साध्य है, औरोका नही।]

हिंसाके सर्व-त्यागका, सर्वत्याग न करसके उसके लिए अंश-त्यागका विधान कर सकता है। किन्तु वह कहीं, कभी और किसी भी हालतमे हिंसा करनेका विधान नहीं कर सकता। आवश्यक हिंसाका जहा कहीं भी विधान या समर्थन मिलता है, वह समाज-शास्त्रका विषय है। समाज-शास्त्र ही समाजकी आवश्यकताके अनुसार थोडी या अधिक हिंसाको प्रोत्साहन देते है। अध्यात्ममार्गी ऐसा नहीं कर सकता। तात्पर्य यह हुआ—अहिंसा मोक्षका मार्ग है और हिंसा संसारका। समाज मे हिंसा और अहिंसा, दोनो चलते है। जितनी हिंसा है उतना संसार है और जितनी अहिंसा है उतनी मुक्ति है। हिंसा और अहिंसाको, संसार और मुक्तिको एक नहीं समझना चाहिए। यही जैन-दर्शनका मर्म है और यही आचार्य भिक्षु या तेरापंथ के दार्शनिक विचारोंकी पृष्ठभूमि है।

सत्य और विवेकका आग्रह

उक्त दृष्टिकोण लोक-व्यवस्थाका विरोधी नहीं, उसमे सत्यका आग्रह है। वह यह है कि लोक-व्यवस्थाको लोक-दृष्टिसे तोला-जाय और आत्म-साधनाको मोक्ष-दृष्टिसे। लौकिक कार्योंको आत्म-धर्म या मोक्षका मार्ग मनाजाय, यह उचित नहीं। आचार्य भिक्षुने दयाका नाश नहीं किया। उन्होंने दयाको कसौटीपर कसनेका आग्रह रखा। उनकी माग थी 'विवेक'। वे दया-धर्मको स्वीकार करते थे, किन्तु विवेकके साथ। उनकी भाषामें देखिए—

"दया दया सब को कहे, दया धर्म छै ठीक।
दया ओलखने पालमी, त्यारे मक्ति नजीक।"

आचार्य भिक्षुने यह नहीं कहा कि लौकिक आवश्यकताकी पूर्ति, दया, दान, उपकार और सेवा मत करो। उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा कि इन्हें मोक्षार्थ या आत्मिक दया, दान, उपकार और सेवाकी कोटिमे मत रखो—दोनोंको एक मत करो।

शब्द-प्रयोगकी भिन्न-भिन्न दृष्टियां

आचार्य भिक्षुने समाजकी व्यवस्थाका समाज-शास्त्रकी भाषामे निरूपण किया, तब उसे सासारिक[1] कर्तव्य, लौकिक उपकार[2], लौकिक[3] अभिप्राय आदि-आदि कहा और जब उन्होंने आत्म-शुद्धिकी पद्धतिका अध्यात्मकी भाषामे निरूपण किया, तब उसे अधर्म, पाप, संसार आदि-आदि कहा।

१—ए (कारुण्य) दान ससारतणो किरतब छै,
तिणमैं मोक्ष रो मार्ग नाहिं।

व्रताव्रत १६।८

२—कोई जीव छुडावै लाखा दाम दे, ते तो आपरो सिखायो नहिं धर्म।
ओ तो उपकार ससारनो, तिणसू कटता न जाणै कर्म॥

व्रताव्रत १२।५

३—अव्रत मे दे दातार, ते किम उतरे भवपार।
छान्दो इण लोक रो ए, मारग नहीं मोख रो ए॥

उन्होंने जिन दो भिन्न दृष्टिकोणोंसे लौकिक कर्तव्योंका मूल्याङ्कन किया, उन्हीं दृष्टिकोणोंसे अगर उन्हें आंका जाय तो कोई दुविधा नहीं आती। दुविधा तब आती है, जब उनको—लौकिक कर्तव्योंको और आचार्य भिक्षु द्वारा उनके लिए किये गये शब्द-प्रयोगोंको एक ही दृष्टिसे आंका जाता है।

इस दृष्टि-भेदको ध्यानमें रखकर आप तेरापन्थ पर लगाये जानेवाले आरोपोंकी समीक्षा कीजिए और उसके सिद्धान्तों पर गम्भीरतासे मनन कीजिए।

आचार्य भिक्षुके विचारोंकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

तेरापन्थकी अपनी मान्यता यह है—

१—अहिंसा—प्राणीमात्रके प्रति जो संयम है, वह अहिंसा[1] है। उसके दो रूप हैं—विधि और निषेध। संवर या संयम, अप्रवृत्ति या निवृत्ति निषेधात्मक अहिंसा है। निर्जरा या शुभ योगकी प्रवृत्ति या राग-द्वेष-मोह-रहित प्रवृत्ति या संयमयुक्त प्रवृत्ति, विधिरूप अहिंसा है।

२—स्थानागसूत्र[2] में संयमकी परिभाषा बताते हुए लिखा

१—अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।

—दशवैकालिक ६।९

२—बेइंदियाणं जीवा असमारंभमाणस्स चउविहे संजमे कज्जइ, तंजहा—जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जिब्भामयेण दुक्खेण असंजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असंजोगेत्ता भवइ।

—स्थानांग ४।४

है—"सुखका व्यपरोपण या वियोग न करना और दुःखका संयोग न करना संयम है।" यह निवृत्तिरूप अहिंसा है। आचारागसूत्रमे धर्मकी परिभाषा बताते हुए लिखा है—"सर्व[1] प्राणियोंको मत मारो, उनपर अनुशासन मत करो, उनको अधीन मत करो, दास-दासीकी भाँति पराधीन बनाकर मत रखो, परिताप मत दो, प्राण-वियोग मत करो—यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ तीर्थंकरोंने इसका उपदेश किया है।" यह भी निवृत्तिरूप अहिंसा है। भगवान् महावीर ने प्रवृत्तिरूप अहिंसाका भी विधान किया है, किन्तु सब प्रवृत्ति अहिंसा नहीं होती।

चारित्रमे जो प्रवृत्ति है, वही अहिंसा है। अहिंसा के क्षेत्रमे आत्मलक्षी प्रवृत्तिका विधान है और संसार-लक्षी या परपदार्थलक्षी प्रवृत्तिका निषेध। ये दोनों क्रमशः विधिरूप अहिंसा और निषेधरूप अहिंसा बनते है। देखिए उत्तराध्ययन २४।२६—

"एयाओ पचममिइओ, चरणस्स पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसा॥"

१—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निमिए सासए।

आचाराग ४। १। १२७

समिति—शुभ अर्थका व्यापार प्रवृत्ति-धर्म है और गुप्ति—अशुभ-अर्थका नियन्त्रण निवृत्ति-धर्म है।

३—अहिंसाका आधार करुणा नहीं, संयम[1] है। अहिंसा आत्म-धर्म या मोक्ष-मार्ग है। उसका साध्य है—मोक्ष। मोक्षका अर्थ है—बन्धनसे मुक्ति। प्राण-रक्षा उसका साध्य नहीं है। गौणरूपमे वह अपनेआप हो-जाती है।

४—पारमार्थिक दया—अध्यात्म-दया और अहिंसा एक है। व्यावहारिक दया मोक्षका मार्ग नहीं है, आत्म-साधना नहीं है किन्तु सासारिक बन्धन है। जो बन्धन है, वह मोक्षके प्रतिकूल है।

पुण्य शुभ-पुद्गलोका बन्धन है—सोनेकी बेडी है और पाप अशुभ-पुद्गलोंका बन्धन है—लोहेकी बेडी है, आखिर दोनो बेडियाँ है। आध्यात्मिक दृष्टिका ध्येय है—मोक्ष। वह इन दोनोंके छूटनेसे मिलता है।

५—संसारके अनुकूल कार्य या प्रवृत्तिसे संसार कटता नहीं। उसे काटनेका उपाय है वीतराग-भाव और वही विशुद्ध या मोक्षके अनुकूल अहिंसा है।

६—अहिंसा और दयाकी परिभाषा यह है—जो प्रवृत्ति सूक्ष्म या स्थूल राग, द्वेप, क्रोध, मान, माया, लोभ,

---

१—सव्वे पाणा न हन्तव्वा

—आचाराग ४।१।१२७

अज्ञान, भय, वासना, प्रमादसे प्रभावित या उत्पन्न होती है—एक शब्दमें, जिसमें संवरनिर्जरात्मक धर्म नहीं होता, आत्म-शुद्धि नहीं होती, वह विशुद्ध अहिंसा या दया नहीं है और जिससे अपनी और दूसरेकी आत्म-शुद्धि होती है, वह विशुद्ध अहिंसा या दया है।

७—जीना अहिंसा नहीं, मरना हिंसा नहीं, मारना हिंसा है, नहीं मारना अहिंसा है। स्व-पर-प्राणोंकी रक्षा करना व्यावहारिक दया है। स्व-पर-आत्माकी रक्षा करना, शुद्धि करना पारमार्थिक दया है।

८—मनसा, वाचा, कर्मणा किसी जीवका वध न करना, न कराना और न करतेको अच्छा समझना—यही अभय-दान है।

९—बल-प्रयोग, प्रलोभन और भय आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियोंसे हिंसा नहीं मिटती। हिंसा मिटती है हिंसक का हृदय-परिवर्तन होनेसे।

दण्ड-विधानसे हिंसकको मिटाया जा सकता है· हिंसाको नहीं।

१०—प्राण-रक्षा लोक-दृष्टिमें प्रिय है किन्तु श्रेयस् नहीं। भगवान् महावीरकी वाणी[1] है—"मोक्षार्थी किसीका भी प्रिय-अप्रिय न करे।"

१—पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।

(सूत्रकृताङ्ग १-१०।७)

११—सुख देनेसे सुख मिलता है—यह सिद्धान्त व्यवहार-मार्गका साधक है किन्तु संयमकी भाषा यह नहीं। आत्म-सुख आत्म-संयमसे ही मिलता[1] है।

१२—जीव-रक्षा या प्राण-रक्षा अहिंसाका परिणाम हो सकता है, होगा ही ऐसी बात नहीं—पर उसका प्रयोजन नहीं। उसका प्रयोजन है राग-द्वेषको मिटाना, वीतराग या अप्रमत्त बनना।

१३—वृष्टिसे कृषि हरीभरी हो सकती है परन्तु वर्षा कृषिके लिए होती है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। योंही अहिंसाके आचरणसे प्राण-रक्षा हो सकती है किन्तु वह प्राण-रक्षाके लिए होती है—ऐसी बात नहीं।

१४—कष्ट या विपदासे बचाना समाजका सहज धर्म है और असंयमसे बचाना मोक्ष-धर्म या आत्म-धर्म है। समाज की दृष्टिसे पहला अनिवार्य है और मोक्षकी दृष्टिसे दूसरा।

१५—सेवाके भी दो रूप बनते हैं—(१) संयमपूर्ण सेवा मोक्ष का मार्ग है, वह फिर माता-पिता, गुरुजन, दीन-दुःखी

१—इह मेगेउ भासति, सात सातेण विज्जति।
जे तत्थ आरिय मग्ग, परम च समाहिय॥
मा एय अवमन्नता, अप्पेण लुपहा बहु।
एतस्स अमोक्खाय, अय हारिव्व झूरह॥

सूत्रकृताङ्ग ३।४।६।७

या किसीकी भी हो। (२) असंयममय सेवा संसारका मार्ग है। मोक्षके लिए मोक्ष-मार्गकी सेवा आवश्यक होती है, संसारके लिए संसार-मार्गकी, दोनोंके साधक के लिए दोनोंके मार्गकी।

१६—तेरापन्थी साधुओंके सिवाय संसारके सभी प्राणी कुपात्र है—तेरापंथकी ऐसी मान्यता नहीं है। कोई व्यक्ति सभी दृष्टियोंसे सुपात्र या कुपात्र नहीं होता। सुपात्र या कुपात्र भिन्न-भिन्न अपेक्षासे होते हैं। एक गरीव और दीन व्यक्ति अनुकम्पा-दानका पात्र है किन्तु मोक्ष-दानका पात्र नहीं है। और इसलिए नहीं है कि वह असंयमी है, अव्रती है, अत्यागी है। मोक्षार्थ दान का अधिकारी एकमात्र संयमी ही है—महाव्रती ही है।

तेरापंथका सिद्धान्त यह है कि असंयमी मोक्षार्थ दानकी अपेक्षा कुपात्र है यानी उस दानका वह अधिकारी नहीं, योग्य नहीं।

यहा 'कुपात्र' का अर्थ असंयमी है, दुराचारी नहीं। अनुकम्पायोग्य व्यक्तिका सहयोग करना और दुराचारी का सहयोग करना, एक कोटिके है—यह तेरापंथका सिद्धान्त नहीं है। अनुकम्पायोग्य व्यक्तिका सहयोग करना समाज-सम्मत है और दुराचारीका सहयोग करना समाज-सम्मत भी नहीं है।

१७—लौकिक दया, दान, उपकार और सेवा करनेकी

मनाही[1] करना पाप है। तेरापन्थी इन कार्योंके करने-
वालोंको कभी नहीं रोकते[2]।

१८—इन लौकिक कार्योंको मोक्ष-धर्म या आत्म-धर्म—नहीं
मानाजाता फिर भी इन आवश्यकताओंका प्रतिरोध
नहीं कियाजाता।

१—वाडो कोई खोले, तामें करत मनाही वह,
साधु ना कसाई मे भी, नीच कहलात हैं।
स्वेच्छा निज गेह भी लूटावै सर्व लोकन को,
तेरापथी ताके कोई आडा नही आत हैं।
पात्र औ कुपात्र एक मात्र तो न करै
तामे खेत्र और ऊखर सो अन्तर बतात हैं।
तुलसी भनन्त अन्त तन्त को विचारे ऐसे,
सो ही इस काल प्रभू ! तेरापथ पात हैं॥

—आचार्य श्री तुलसी

२—बरजणो ज्याहि रह्यो, मुनि वहरण जावे हो।
देखत मागन फकीर कू, तो पाछा फिर आवे हो॥
सूत्र में जिन भाखियो, तेहवो दान दिरावे हो।
कोई दान कुपात्र न दिये, तो देता आडा न आवे हो॥
सो ही तेरापन्थ पावे हो॥

—आचार्य श्रीभिक्षुके सम-सामयिक तत्वज्ञ श्रावक
श्री शोभजी

सामाजिक व्यक्तियोके सामने तीन प्रकारके कार्य होते है—

१—विहित

२—निषिद्ध

३—अविहित-अनिषिद्ध

मोक्षकी दृष्टिसे—

१—मोक्षकी आराधना विहित है।

२—समाज-विरुद्ध कार्य निषिद्ध है।

३—समाजके उपयोगी कार्य अविहित-अनिषिद्ध है। उनमे आरम्भ होता है यानी वे मोक्षके लिए नहीं होते, इसलिए उनका मोक्ष-दृष्टिसे विधान नहीं कियाजाता और वे समाजके लिए उपयोगी होते है इसलिए उनका वर्तमान-कालमे निषेध नहीं कियाजाता अथवा अमुक कार्य मत करो, इस रूपमे निषेध नहीं कियाजाता।

समाजकी दृष्टि से—

१—समाज जिसका विधान करे, वह विहित।

२—समाज जिसका निषेध करे, वह निषिद्ध।

३—समाज जिसका न विधान करे और न निषेध, वह अविहित-अनिषिद्ध। समाजकी व्यवस्थासे सम्बन्धित कार्य अविहित-अनिषिद्ध है। मोक्ष-धर्मकी दृष्टिसे इनका विधान और वार्तमानिक एवं वैयक्तिय निषेध नहीं होता।

यह है आचार्य भिक्षुके विचारोंकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि।

अहिंस और दया-दान अन्य विचारकों की दृष्टिमें

आचार्य भिक्षुने जो विचार स्थिरता पूर्वक रखे, वे ही विचार अध्यात्म-योगमे डुबकिया लगाते समय अन्य विचारकोंने भी रखे है। उदाहरणस्वरूप कुछ पढिए, पता चलेगा—तत्त्व क्या है·

यजुर्वेद—

"मै समूचे संसारको मित्रकी दृष्टिसे देखू।"

[विश्वस्याऽह मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि।]

मुण्डकोपनिषद् १।२।७—

"ये यज्ञरूपी नौकाएं जिनमे अठारह प्रकारके कर्म जुडेहुए है, संसार-सागरसे पार करनेके लिए असमर्थ है। जो ना समझ लोग, इन याज्ञिक कर्मोंको कल्याणकारी समझकर इनकी प्रशंसा करते है उन्हें पुनः पुनः जरा और मृत्युके चक्करमे पडना पड़ता है।"

[प्लावा ह्येते अद्दढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
जरामृत्यु पुनरेवापयन्ति]

वेद-व्यास—

"वेदमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकारके धर्म वतलाये गये हैं। कर्मके प्रभावसे जीव संसारके वन्धनमें बंधा रहता है और ज्ञान के प्रभावसे मुक्त होजाता है।"

—महाभारत, शान्तिपर्व अ० २४१

भगवद्गीता—

"आसुरी प्रकृतिवाले लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिका तत्त्व नहीं समझते। उनमें शौच, आचार और सत्य नहीं होता।"

[प्रवृत्तिच निवृत्तिच, जनान, विदुरासुरा ।
न शौच नापि चाचारो, न सत्य तेषु विद्यते ॥]

—अध्याय १५, श्लोक ७

"प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, वन्ध और मोक्षको जो जानती है, वह सात्त्विक वुद्धि है।"

[प्रवृत्तिच निवृत्तिच, कार्याकार्ये भयाभये ।
वन्ध मोक्ष च या वेत्ति, वुद्धि सापार्थं सात्त्विकी ॥]

—अ० १७, श्लोक ३०

सांख्य-दर्शन—

"जो मोक्षका साधन नहीं है, लेकिन धर्ममें गिनकर साधन वर्णन करदिया तो उसका जो विचार है, वह केवल बन्धनका ही कारण होगा न कि मोक्ष का।"

[असाधनानुचिन्तन बन्धाय भरतवत्]

—अध्याय ४, सूत्र ७

पातञ्जल-योग-भाष्य—

"सर्व प्रकारसे सर्व कालोंमें सर्व प्राणियोंके साथ अभिद्रोह न करना उनका नाम अहिंसा है।"

[तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेषु अनभिद्रोह ।]

दिगम्बर-आचार्य अमितगति—

"जो असंयतात्माको दान देकर पुण्यरूप फलकी आकांक्षा करता है, वह जलती आगमे बीज फेंक, धान पैदा करना चाहता है।"

[वितीर्य यो दानमसंयतात्मने,
जन फल काक्षति पुण्यलक्षणम् ।
वितीर्य बीज ज्वलिते स पावके,
समीहते शस्यमपास्तदूषणम्"]

—अमितगति श्रावकाचार
११ वा परिच्छेद

आचार्य हेमचन्द्र—

"यह असि, मसी, कृषि आदि व्यवस्थाका प्रवर्त्तन सावद्य—सपाप है, फिरभी स्वामी ऋषभदेवने अपना कर्त्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया।"

[एतच्च सर्वं सावद्य-मपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्त्तव्यमात्मन ॥]

—त्रिपष्टि शलाका पु० चरित्र, १।२।९७१

"मनसा, वाचा, कर्मणा जीव हिंसा न करना, न कराना, न करतेका अनुमोदन करना यह अभयदान है। उनके जीवन-पर्यायका नाश न करना, दुःख पैदा न करना, संक्लेश न देना यह अभयदान है।"

[भवत्यभयदान तु, जीवाना वववर्जनम्।
मनोवाक्कायै करण-कारणानुमतैरपि ॥
तत्पर्यायक्षयादुदु खोत्पादात् सक्लेशतम्त्रिवा।
वधम्य वर्जनतेष्व-भयदान तदुच्यते ॥]

—ऋषभ चरित्र १५७-१६६

धर्म-अधिकरण—

"निश्चय नयकी दृष्टिसे माता-पिता आदिका विनय करने रूप सतताभ्यासमें सम्यक्-दर्शन आदिकी आराधना नहीं होती इसलिए वह धर्मका अनुष्ठान नहीं है। व्यवहार-नय, स्थूलदृष्टि या लोकदृष्टिसे वह युक्त है।"

[निश्चयनययोगेन, निश्चयनयाभिप्रायेण यतो मातापित्राहिविनय-
स्वभावे सतताभ्यासे सम्यक्-दर्शनाऽध्यनाऽऽराधनारूपे धर्मानु-
ष्ठान दूरापास्तमेव]

श्री सागरानन्द सूरि—

"गृहस्थ धर्ममे रहनेवाले जीव जो कि माता-पिताकी सेवाके लिये बन्धेहुए है फिरभी उनकी सेवा लोकोत्तर धर्म तो नहीं है।"

[गृहस्थ धर्म मा रहेला जीवो जो के माता पिता नी सेवा माटे बन्धायेला छै तो पण तेमनी सेवाए लोकोत्तर धर्म तो नथी। तेथीज उववाई आदि आगमो मा मात्र मातापिता नी सेवा करनार ने परलोकना आराधकपणनो नियम देखाड़ता नथी आ थी मात्र आ लोक मा जेवो ए उपकार करेला छे जे ओती सेवा केवल लौकिकज गणवामा आवेली छे।]

दीक्षा नो सुन्दर स्वरूप, पानु १४६, १४७

"भले ही श्री भगवान् महावीरने अभिग्रह किया हो, परन्तु वह अभिग्रह शास्त्र दृष्टिसे दोषयुक्त है। अशुभ कर्मके उदयसे दीक्षाको रोकनेवाला अभिग्रह किया। भलेही वे श्री महावीर-भगवान् हों, फिरभी उनके द्वारा कियाहुआ वह अभिग्रह दोषयुक्त नहीं—ऐसा नहीं कहा जासकता।

[श्रीमहावीर भगवाने भले अभिग्रह करयो पण ते अभिग्रह शास्त्र प्रमाणे दोषयुक्त छे। अशुभ कर्मोनु उदय थवाथी दीक्षा अटकाव-नारो अभिग्रह करयो भले ते श्री महावीर भगवान् होय तो पण तेमणे ते करेलो अभिग्रह दोषयुक्त नथी एम तो न ज कहवाय।]

—प्रबुद्ध जैन पत्र १३६ ता० २०-२-३२

"दूसरोंके द्वारा जिलाने, मराने, पीडा दिलाने अथवा दूसरा को सहयोग देने, मारने, जिलाने, दु:खी करनेका विचार अथवा बुद्धि होती है, वह केवल मोहसे होनेवाली कल्पना है। अथवा वह मोहसे कल्पित है, तात्त्विक नहीं। कोई किसीका उपकार अथवा अपकार नहीं करता।"

[बीजाने हाथे जीवावाना मरावानाके पीडावाना के दु खी करवाना विचारोके बुद्धि थवी ते जीवने केवल मोह थी थती कल्पनाओज छे अथवा तो मोहथी कल्पेली छे तात्त्विक नथी कोई कोईने उपकारके अपकार करतो नथी।]

महावीर तत्त्वप्रकाश, प्रकरण ४, पत्र ४३

श्री देवचन्दजी——

"आत्म-गुणका हनन करनेवाला भावसे हिंसक है और आत्म-धर्मकी रक्षा करनेवाला भावसे अहिंसक। आत्म-गुणकी रक्षा करना ही धर्म है और आत्म-गुणोंका विध्वंस करना अधर्म।"

[आत्म गुणनो हणतो, हिंसक भावे थाय।
आत्म धर्मनो रक्षक, भाव अहिंसा कहाय॥
आत्मगुण–रक्षणा तेह धर्म।
स्वगुण–विध्वसना तेह अधर्म॥]

—अध्यात्म गीता

श्रीमद् राजचन्द्र——

"लौकिक दृष्टि और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिमें बडा अन्तर है अथवा दोनोंका परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। लौकिक

दृष्टिमे व्यवहार—सासारिक कारणोंकी मुख्यता है और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थ की। इसलिए अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ मिलादेना उचित नहीं।"

[लौकिक दृष्टि अने अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टि मा मोटो भेद छे, अथवा एक बीजी दृष्टि परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली छे लौकिक दृष्टि मा व्यवहार—सासारिक कारणोनु मुख्यपणु छे माटे अलौकिक दृष्टिने लौकिक दृष्टिना फलनी साथे प्राये (घणु करीने) मेलवी योग्य नहिं]

—श्रीमद् राजचन्द्र, वर्ष १९ वा पृष्ठ ३४८

"हे काम! हे मान! हे संग-उदय! हे वचन-वर्गणा! हे मोह! हे मोहदया! हे शिथिलता! तुम सब क्यों अन्तराय करते हो? परम अनुग्रह करके अब अनुकूल बनो।"

[हे काम! हे मान! हे सग—उदय! हे वचन वर्गणा! हे मोह! हे मोह—दया! हे शिथिलता! तमे शामाटे अन्तराय करो छो? परम अनुग्रह करीने हवे अनुकूल थाव]

—तत्त्वज्ञान, पृष्ठ १२६

महात्मा गांधी—

मानवोंमे जीवन-संचार किसी न किसीकी हिंसासे होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्मकी परिभाषा एक नकारात्मक कार्य, अहिंसासे की गई है। यह शब्द संहारकी संकडीमे बंधाहुआ है। दूसरे शब्दोंमे यह कि शरीरमें जीवन-संचारके लिए हिंसा

स्वाभाविक रूपसे आवश्यक है। इसी कारण अहिंसाका पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीरके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त हो।"

—सी० एफ एन्ड्रूज,

महात्मा गांधीके विचार ५।१९३८

"यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मारडाले। उसका रास्ता तो सीधा है। एक को बचानेके लिए वह दूसरेकी हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्त्तव्य तो सिर्फ विनम्रताके साथ समझाने-बुझानेमे है।"

—हिन्द-स्वराज्य पृष्ठ ७१

"अहिंसाके माने सूक्ष्म जन्तुओंसे लेकर मनुष्य तक सभी जीवोंके प्रति सम-भाव। पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियोंके प्रति दुर्भावनाका सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहातक कि विषधर कीड़ो और हिंसक जानवरोका भी आलिङ्गन कर सकती है।"

—मगल-प्रभात पृष्ठ ८१

"एकवार महात्मा गांधीसे प्रश्न कियागया—कोई मनुष्य या मनुष्योंका समुदाय लोगोंके बड़े भागको कष्ट पहुंचारहा हो, दूसरी तरहसे उसका निवारण न होता हो तब उसका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसामे खपेगा या नहीं? महात्माजीने उत्तर दिया—अहिंसाकी जो मैने व्याख्या दी है. उसमे ऊपरके तरीके पर मनुष्य-वधका समावेश ही नहीं हो सकता। किसान जो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैने कभी

अहिंसामें गिनाया ही नहीं। वह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भलेही गिनाजाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।"

—अहिंसा पृष्ठ ५०

स्थानकवासी आचार्य जवाहिरलालजी—

"कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, संग्राम, कुशील ये क्रियाएँ चाहे मिथ्यादृष्टिकी हों या सम्यग्दृष्टिकी हों, संसारके लिए होती हैं। इनमें मोक्ष-मार्गकी आराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।"

—सद्धर्ममण्डन, पृष्ठ ५५

"जो जिस दानके लायक नहीं है, वह यहाँ उस दानका अक्षेत्र समझाजाता है, जैसे मोक्षार्थ दानका साधुसे भिन्न अक्षेत्र है।"

—सद्धर्ममण्डन, पृष्ठ १३५

साधु टी० एल० वास्वानी—

"सब जीवोंको अपने समान समझो और किसीको हानि मत पहुंचाओ। इन शब्दोंमें अहिंसाका द्व्यर्थी सिद्धान्त—विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मकमें एकता का संदेश है—सबमें अपने आपको देखो। निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है— किसीको भी हानी मत पहुंचाओ। सबमें अपने आपको देखनेका अर्थ है सबको हानि पहुंचानेसे बचना। यह हानिरहितता सबमें एकही कल्पनासे विकसित होती है।"

—हिन्दुस्तान ता० २८-३-५३

पन्यास मुनिश्री कल्याणविजयगणी—

"महावीरका खास लक्ष्य स्वयं अहिंसक बनकर दूसरोंको अहिंसक बनानेका था, तब बुद्धकी विचार-सरणि दुःखितोंके दुखोद्धारकी तरफ झुकीहुई थी।

ऊपर-ऊपर से दोनोंका लक्ष्य एकसा प्रतीत होता था परन्तु वास्तवमे दोनोंके मार्गमे गहरा अन्तर था। महावीर दृश्यादृश्य दुःखकी जडको उखाड डालना मुख्य कर्तव्य समझते थे और बुद्ध दृश्य दुःखोंको दूर करना। पहिले निदानको दूर कर सदाके लिए रोगसे छुट्टि पानेका मार्ग बतलानेवाले वैद्य थे, तब दूसरे उदीर्ण रोगकी शान्ति करनेवाले डाक्टर।"

—भगवान् महावीर और बुद्ध

मश्रुवाला—

"बुराईसे रहित और भलाईके अंशसे युक्त न्याय्य स्वार्थवृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है। यह आदर्श या शुद्ध अहिंसा नहीं।"

विजय रामचन्द्रसूरि—

"जिस दिनसे उन्होंने छव कायके जीवोंकी हिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली तबसे वे अभयदानी बने—सब जीवोंको आत्मतुल्य समझ उन्हें भयभीत करनेसे निवृत्त बने।"

[जे दिवस थी तेओश्रे छकाय जीवनी हिंसा नहि करवाना पचक्खाण कर्या त्यारथी तेओ अभयदानी थया एटले बधा

जीवाने पोताना आत्मवत् लेखी तेने भय उपजाववाना कार्यथी निवृत्त थया ।]

जैन प्रवचन वर्ष १० अंक ८, सं० १२७४ पृष्ठ १०२

क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य—

"राग, द्वेष, मोह ये तीनो आत्मा के विकार है। ये जहाँ पर होते है, वहीं आत्मा कलि (पाप) का संचय करता है, दुःखी होताहै, नाना प्रकारके पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द-राग हुआ, तब परोपकारादि कार्योंमे व्यग्र रहता है। तीव्र-राग-द्वेष हुआ, तब विषयोंमे प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापो मे मग्न होजाता है। कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। जहा आत्मामे राग-द्वेष नहीं होते, वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष-मार्ग है।"

—अनेकान्त वर्ष ९ किरण ६, जून १९४८

कानजी स्वामी—

"जीव-दयामे जीवको बनाये रखना है या विकार को? जीवको जीवरूपमे बनाये रखना, उसे विकारी न होने देना इसका नाम जीव-दया हे। जीवको जीवरूपमे न पहिचानना, उसे विकारी और शरीरवाला मानना, उसका नाम जीव-हिंसा है—ज्ञानी लोग अपनी आत्माको विकारसे बचाते है, यही जीव-दया है।"

[जीव–दयामा जीवने टकावी राखवो छे के विकारने ? जीवने जीवपणे टकावी राखवो अने विकारपणे न थवा देवो एनु

नाम जीव-दया छे, अने जीवने जीवपणे न ओलखता विकारी मानवो अने शरीरवालो मानवो तेनुज नाम जीवहिंसा छे जीव कोने कहेवाय ते तने खबर छे ? जीव तो पोताना ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुणानो पिण्ड छे हरेक जीव पोताना गुणथी पूरो छे पर जीवो पोता पोताने स्वभावने ओलखीने पर्याय मा शुद्धता प्रकट करे तो तेमनी दया थाय मारु तेमा काई चाले नहिं—आम जाणीने ज्ञानीओ पोताना आत्माने विकारथी बचावे छे एज जीवदया छे]

आत्मधर्म

वर्ष ४, प्रथम श्रावण २४७३

श्री हरिभाऊ उपाध्याय—

"गाधीजीने जब-जब उपवास किये है, तभी लोगोंको उनके प्राणोंकी अधिक चिन्ता हुई। यह स्वाभाविक जैसा तो है पर इसमे छिपे हमारे मोहको हमें समझलेना चाहिए, नहीं तो उपवास आदिका मर्म हम ठीक-ठीक न समझ पायेंगे।"

धर्म-संकटके प्रश्न और उनका समाधान

जो व्यक्ति आचार्य भिक्षुके व्यापक, गम्भीर और गूढवादी दृष्टिकोणको धर्म-संकटके प्रश्नोंके रूपमे जनताके सामने रखते है, वे उनके विचारोंके साथ न्याय नहीं करते। धर्म-संकटके प्रश्न किसी भी सिद्धान्तके सामने खड़े किये जा सकते है किन्तु ऐसा करनेमे सिद्धान्तकी सचाईकी परखकी भावना नहीं होती, उसमे सिर्फ सिद्धान्तको जनताकी दृष्टिमे नीचा दिखानेकी भावना होती है।

उदाहरणके लिए आप कुछ पढिए—

पानीके जीवोंकी घात करना पाप है, यह जैनोंका सर्वसम्मत सिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न श्रद्धावाले लोगोंको उभाडनेके लिए इसे धर्म-संकटका रूप दियाजाए कि जैन लोग गंगा-स्नान करनेको पाप बतलाते है, राज्याभिषेकको पाप बतलाते है।

इसी प्रकार आगीकी हिंसा, वायुकी हिंसा, वनस्पतिकी हिंसा पाप है। उनको भी विकृत रूपमे रखा जा सकता है कि

जैन लोग मङ्गल-दीप जलानेको पाप बताते हैं, बीमारके लिए रोटी पकानेमे पाप बताते हैं, बीमारका निदान करनेके लिए बिजली जलाने, एक्स-रे करनेमे पाप बताते हैं, रोगीके लिए पंखा चलानेमे पाप बताते हैं, रोगी माता-पिताको कन्द-मूल खिलानेमे पाप बताते हैं, रोगीको स्नान करानेमे पाप बताते है आदि-आदि ।

अब जरा सोचिए। ऊपरकी पंक्तियोंमे क्या शुद्ध भावना है ? ये उदाहरण जैनोकी अहिंसाके व्यापक सिद्धान्तोंका स्वरूप बतानेवाले हैं या उनके प्रति घृणा फैलानेवाले ?

जन-मानसकी रुचि और करुणापूर्ण बातोंके उदाहरण खड़े कर जन-साधारणको भुलावेमे डालना किसी भी व्यापक सिद्धात के साथ न्याय नहीं होता । तेरापन्थके व्यापक सिद्धान्तोंके साथ ऐसा अन्याय होता रहा है। उसका अर्थ लोगोको उत्तेजित करनेके सिवाय और कुछ भी नहीं लगता । तेरापन्थकी मान्यता जैन-सूत्रोंकी मान्यता है। जैन-सूत्रोंके अनुसार तेरापन्थकी मान्यता है—असंयमी' को सजीव या निर्जीव, एषणीय या अने-

१—समणोवासगस्स ण भते ! तहारूव असजय अविरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्म फासुएण वा, अफासुएण वा, एसणिज्जेण वा, अणेसणिज्जेण वा असण-पाण० जाव किं कज्जइ ? [उ०] गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ ।

—भगवती ८ । ६

पणीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य दे, उससे पाप-कर्म बंधता है, निर्जरा नहीं होती।

यह मोक्ष-दृष्टि है। जनताको उभाड़नेके लिए इसको सामाजिक स्तरपर लाकर इस रूपमे रखाजाता है—तेरापंथी कहते है कि दीन-हीन मनुष्योंकी रोटी-पानीसे सहायता करना पापहै।

मोक्षार्थ[1]-दानका अधिकारी संयमी ही है। संयमीके सिवाय शेष प्राणी यानी असंयमी मोक्षार्थ दानके पात्र—अधिकारी नहीं है।

जनताको उभाड़नेके लिए इसे यह रूप दियाजाता है कि तेरापंथी साधु अपने सिवाय सभी प्राणियोको कुपात्र कहते है, श्रावकको कुपात्र कहते है, माता-पिताको कुपात्र कहते है।

असंयमी जीवनकी इच्छा करना, उसका पालन-पोषण करना, उसे टिकाये रखनेका प्रयत्न करना रागकी वृत्ति है।

जनताको उभाडनेके लिए इसे बड़े करुणापूर्ण दृष्टान्तोंके रूपमे रखाजाता है—

तेरापंथी कहते हैं कि मोटरकी झपटमे आतेहुए अथवा ऊपरसे गिरतेहुए बच्चेको बचाना पाप है।

१—समणोवासगस्स ण भते! तहारूव समण वा माहण वा फासु-एसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति? [उ०] गोयमा! एगतसो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य मे पावे कम्मे कज्जति।

—भगवती ८।६

गायोंके वाड़ेमें आग लगजाय तो उन्हें बचाना पाप है।

मरतेको बचाना पाप है आदि-आदि।

हमारा मुख्य कार्यक्रम है अहिंसा, सत्य आदिका प्रचार करना, मनुष्य-जीवनको नैतिक व सदाचारपूर्ण बनाना, आध्यात्मिकताका उन्नयन करना।

माता-पिताकी सेवा करना पाप है, मरतेको बचाना पाप है, गरीबोंकी सेवा करना पाप है आदि-आदि बातें हमारे सिद्धान्त प्रचार या कार्यक्रमका विषय नहीं हैं। समाजकी आवश्यकता को छुड़ायें, यह न सम्भव है और न हमारा सामान्य उद्देश्य। हमारा उद्देश्य सिर्फ इतना ही है कि लोग समाज-धर्म या व्यवहार धर्मको आत्म-धर्म जो कि मोक्षका साधन है, समझनेकी भूल न करें। समाजकी उपयोगिता और आवश्यकताको मोक्षकी दृष्टिसे और मोक्षकी वस्तु-स्थितिको समाजकी दृष्टिसे तोलनेकी भूल न करें।

सामाजिक कर्तव्योंका मापदण्ड समाज-दृष्टि और मोक्ष-कर्तव्योंका मापदण्ड आत्म-दृष्टि रहे, कोई दुविधा नहीं आती। दुविधा तब आती है, जब दोनोंको एक दृष्टिसे मापाजाता है।

भारतकी सामाजिक व्यवस्थामें संयुक्त परिवारकी प्रथा है। उसे प्रोत्साहन मिले, इस दृष्टिसे माता-पिताकी सेवा करना महान् धर्म, पतिकी सेवा करना पत्नीका धर्म आदि-आदि संस्कार डालेगये किन्तु जिन राष्ट्रोंमें पति और पत्नीके समान अधिकार है, वहां 'पति-सेवा धर्म' इस सूत्रका कोई मूल्य नहीं।

सामाजिक व्यवस्थाको प्रोत्साहन देनेके लिए समाज-धर्म मानाजाय, यह दूसरी बात है किन्तु उसे मोक्षका धर्म बताना वाञ्छनीय नहीं। ऐसा करके लोगोंको वास्तविक धर्मसे दूर रखना है। मोक्षकी दृष्टि समाजकी दृष्टिसे नहीं मिलती।

मोक्षकी दृष्टि है—माता, पिता, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य सबको छोडो। ये सब दुःखके कारण हैं। भगवान् महावीरने कहा है—"मायाहिं[1] पियाहिं लुप्पइ"—कई मनुष्य माता-पिता तथा स्वजनवर्गके स्नेहमे पडकर धर्मके लिए उद्योग नहीं करते हैं। वे उन्हीं के द्वारा संसार भ्रमण करायेजाते है। इसी प्रकार सूत्रकृताग[2] (१।२।१।२०) मे कहा है—"संयमहीन पुरुष माता-पिता आदि अन्य पदार्थोंमे आसक्त होकर मोहको प्राप्त होते है।"

अध्यात्म मार्गमे एकत्व भावनाका प्राधान्य है। माता-पिता आदिके सम्बन्ध व्यावहारिक है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"एगस्स[3] गतीय आगति, विदुमंता सरणं ण मन्नइ।" संसार मे आना और जाना अकेलेका ही होता है। अतः विद्वान् पुरुष धन, स्वजनवर्गको शरण नहीं मानता।

आचार्य शंकरके शब्दोंमे—

"कास्ते कान्ता कस्ते पुत्र, ससारोऽयमतीव विचित्र।"

१—सूत्रकृताग १।२।१।३

२—अन्ने अन्नेहिं मूच्छिया, मोह जति नरा असवुडा।
विसम विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया।

३—सूत्रकृताग १।२।३।१७

अर्थात् कौन तेरी स्त्री है और कौन तेरा पुत्र ! यह संसार बड़ा विचित्र है।

समाजकी दृष्टि है—इनका भरण-पोषण और संग्रह करो, ये सब सुखके साधन हैं। गृहस्थ जीवनमे मोक्षधर्म और समाज धर्म दोनोंका समन्वय होता है। जितना त्याग है, वह मोक्षका आचरण है और जितना बन्धन है, वह समाजकी स्थिति है। दोनोंको एक समझनेकी और एक दृष्टिसे समझनेकी भूल नहीं होनी चाहिए।

उदार बनिए

'विभिन्ना पन्थान'—अनेक मार्ग है। कौन किसे अपनाए, यह अपनी इच्छाके अधीन है। प्रत्येक-व्यक्तिके लिए विचार-स्वातंत्र्यका द्वारा खुला है। दार्शनिक क्षेत्रमे बलप्रयोगके लिए कोई स्थान नहीं। जिसे जो सिद्धान्त उपादेय लगे, उसे अपनाए, उसका प्रचार करे—यह अधिकारकी बात है। दूसरोंके सिद्धान्तोंको तोड़-मरोड़कर जनताके सम्मुख रखना धर्म-मर्यादा के प्रतिकूल है। धार्मिक व्यक्तिमे तितिक्षा होनी चाहिए, पर-धर्म-साहिष्णुताका भाव होना चाहिए। दूसरोंके धर्मो पर आक्षेप या उनकी कटु आलोचना करना आत्मदर्शीके लिए नितान्त अनुचित है। कविने कहा है—

"योऽपि[1] न सहते हितमुपदेश
तदुपरि मा कुरु कोपम्।"

१—शान्तसुधारस

जो तेरा हित उपदेश न माने, उसपर भी क्रोध मत कर। दूसरोंकी बुराई करनेवाला अपनी धार्मिकताको भी खो बैठता है।

तेरापन्थ एक प्रगतिशील और जीवित समाज है इसलिए उसका कई वर्गों द्वारा विरोध भी होता है। विरोधका उद्देश्य है, तेरापन्थकी मान्यताओंको विकृत बनाकर जनताको भ्रान्त करना। हमे इसका कोई खेद नहीं। विरोधका स्वागत करते-हुए हमे बड़ा हर्ष होता है। जैसाकि आचार्यश्री तुलसीने लिखा है—

"जो हमारा हो विरोध,
हम उसे समझे विनोद।
सत्य सत्य-शोध मे
तब ही सफलता पायेंगे॥

किन्तु धार्मिक एकताकी पुष्टिके लिए यह आवश्यक है कि एक दूसरेके सिद्धान्तोंके प्रति घृणा फैलानेकी चेष्टा न की जावे।

पवित्र प्रेरणा

जनताका यह सहज कर्तव्य है कि विरोधी प्रचारके आधार-पर वह अपनेको भ्रान्त न बनाये। तेरापन्थके दृढ संगठन, मजबूत आचार और जन-कल्याणकारी कार्यक्रमका निकटसे अध्ययन करे और आचार्य श्री तुलसीगणीका सत्संग कर उनके द्वारा प्रवर्तित अणुव्रतीसंघके नियमोंको जीवनमे उतारकर नैतिक प्रतिष्ठाकी पुनः स्थापना करें।